ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 8.4
IJAR 2022; 8(4): 450-455
www.allresearchjournal.com
Received: 13-02-2022
Accepted: 17-03-2022

रजनी
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, डॉ. भीमराव अंबेडकर कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

Corresponding Author:
रजनी
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, डॉ. भीमराव अंबेडकर कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

'साये में धूप' में अभिव्यक्त दुष्यंत कुमार की काव्य चेतना

रजनी

सारांश
नई कविता के प्रमुख हस्ताक्षर दुष्यंत कुमार ने समकालीन यथार्थ को, उसकी विसंगति, विद्रूपता और सत्ता के विरोधाभासी चरित्र को अभिव्यंजित करने के लिए ग़ज़ल को अधिक उपयुक्त और अपने अनुकूल पाया। उनका प्रसिद्ध ग़ज़ल संग्रह 'साये में धूप' की काव्य चेतना जनता से जुड़ी हुई है। वह जनता जो आजादी के पश्चात् अपने अधिकारों से वंचित हो गई थी। जिसका आजादी से मोहभंग हो गया था तथा जिसके साथ सत्ताधारी वर्ग ने धोखा और छल किया था। अपनी इन ग़ज़लों के माध्यम से दुष्यंत कुमार आजाद भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था की विडंबना, विसंगति और विरोधाभास को उजागर करते हैं तथा जनता की सुप्त संवेदनाओं को जागृत करते हैं। उसमें क्रांति का जोश पैदा करते हैं ताकि वह शोषण पर आधारित व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंके। इसके लिए सबका मिलकर चलना अनिवार्य है। कवि दुष्यंत जहां शोषित जनता से सहानुभूति रखते हैं वहीं उसकी संवेदनहीनता और जड़ता पर व्यंग्य भी करते हैं। कह सकते हैं कि दुष्यंत कुमार की काव्य चेतना लोकतांत्रिक और मानवतावादी मूल्यों तथा समाजवादी दृष्टि से अनुस्यूत है।

कूटशब्द: ग़ज़ल, आजादी, मोहभंग, विसंगति, विकृत व्यवस्था, जनता, संवेदनहीनता, संघर्ष, समाजवादी दृष्टि

प्रस्तावना
1 सितंबर 1935 में जन्मे दुष्यंत कुमार नई कविता की महत्त्वपूर्ण एवं अनूठी आवाज बनकर उभरे। उनकी काव्य-यात्रा 'सूर्य का स्वागत', 'आवाज के घेरे," जलते हुए वन का वसंत' से होते हुए 'साये में धूप' तक पहुंचते-पहुंचते श्रोताओं और पाठकों के गले का हार बन गई।'साए में धूप' दुष्यंत कुमार का चर्चित गज़ल संग्रह रहा। इसका पहला संस्करण 1975 में निकला।

इस संग्रह में 52 ग़ज़लें हैं जिनके माध्यम से दुष्यंत कुमार ने भारतेंदु हरिश्चंद्र, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, प्रसाद, निराला, त्रिलोचन, शमशेर आदि से होकर आने वाली हिंदी ग़ज़ल परंपरा को आगे बढ़ाया। उन्होंने हिंदी ग़ज़ल को जन भावनाओं से जोड़कर नई भावभूमि प्रदान कर उसमें नवजीवन का संचार किया और जन सरोकारों की तड़प पैदा की:

> अब तड़पती सी ग़ज़ल कोई सुनाए/
> हमसफर ऊंघे हुए हैं अनमने हैं। (साये में धूप' पृष्ठ 43)

ग़ज़ल अर्थात् प्रेमी- प्रेमिका का संवाद जिसमें प्रेमी-प्रेमिका की प्रेमानुभूति की अभिव्यंजना शे'रों के माध्यम से की
जाती है। ग़ज़ल लेखन में कथ्य और भाषा को लेकर कुछ नियम होते हैं जिनका निर्वाह उर्दू और हिंदी के ग़ज़लकार करते आए हैं।दुष्यंत का रास्ता इनसे अलग रहा। उनके ग़ज़ल लेखन का एकमात्र उद्देश्य जनता रही है। उनकी प्रेमानुभूति प्रेमी-प्रेमिका की रोमानियत से जुदा आज़ाद हिंदुस्तान की बेबस, बेजुबान, लाचार और गरीब जनता से है। उनकी समस्त संवेदनाएं अन्याय, अत्याचार, अनाचार और भ्रष्टाचार की भेंट चढ़े आम आदमी के साथ हैं।
'साये में धूप' की ग़ज़लों का मिज़ाज उर्दू गज़ल के परंपरागत वस्तु विधान को तोड़ता हुआ आजादी के बाद जनता के सत्ता, राजनीति और प्रजातंत्र से हुए मोहभंग और उससे जन्मी निराशा, उदासी, क्षोभ तथा आक्रोश को सशक्त अभिव्यक्ति देते हुए अपने आप को जन सरोकारों से जोड़ते हुए आमजन के प्रति अपनी सच्ची सहानुभूति एवं प्रतिबद्धता को स्थापित करता है। इसीलिए वे कहते हैं:

> मुझमें रहते हैं करोड़ों लोग चुप कैसे रहूं/ हर ग़ज़ल सल्तनत के नाम एक बयान है।[1] ('साये में धूप', पृष्ठ 57)

समूचे भारत ने स्वतंत्रता पूर्व जिस शिद्दत से अपने आप को स्वतंत्रता-संघर्ष में झोंक दिया था केवल इसलिए न कि ब्रिटिश हुकूमत के अन्याय, शोषण और दमन से छुटकारा मिले। एक सुनहरी स्वप्न के रूप में ऐसे आजाद भारत की परिकल्पना की गई थी जिसमें सत्ता की बागडोर जनता के अपने हाथ में होगी, जहाँ लोगों का वर्तमान और भविष्य सुखद एवं सुरक्षित होगा; पर यह स्वप्न दु:स्वप्न बनकर रह गया। इसकी टीस हर उस संवेदनशील भारतीय को थी जिसकी प्रजातांत्रिक, समाजवादी एवं नैतिक मूल्यों में गहन आस्था थी। मूल्यों का विघटन और अवमूल्यन स्वतंत्र भारत की सबसे बड़ी विडंबना कहीं जा सकती है; जिसकी शुरुआत 1947 में भारत-विभाजन की त्रासदी से हो चुकी थी। इस पीड़ा से जन्मा दंश स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में नई भाव-भंगिमा के साथ अभिव्यंजित हुआ। दुष्यंत कुमार के यहाँ यह ग़ज़ल के रूप में अभिव्यक्त होता है। वे कहते हैं "मैंने अपनी तकलीफ को.... उस अदद तकलीफ, जिससे सीना फटने लगता है, ज्यादा से ज्यादा सच्चाई और समग्रता के साथ ज्यादा से ज्यादा लोगों तक कहने के लिए ग़ज़ल कही है।"[2] दुष्यंत को ग़ज़ल इसलिए भी अनुकूल लगी कि उनके हृदय का तूफान एकदम से गीत या कविता के माध्यम से नहीं फूटता बल्कि ग़ज़ल में पिरोए एक-एक शे'र के जरिए वह व्यंग्यात्मक रूप में नश्तर की तरह चुभन पैदा करता है। आज़ादी के बाद की परिस्थितियां इतनी जटिल, हास्यास्पद और विडंबनापूर्ण हो गई कि प्रतिक्रिया सीधे रूप में हो ही नहीं सकती। व्यवस्था की विकृतियों को जानने, समझने और महसूसने में प्रतीकों द्वारा किए गए व्यंग्य से बढ़कर कोई शैली उपयुक्त और कारगर हो नहीं सकती। भाव स्वयं अपने लिए शब्द और रूप का विधान बना लेते हैं कवि या लेखक को

इसके लिए सायास प्रयत्न नहीं करना पड़ता। आजादी के बाद का मोहभंग जिस प्रकार फैंटेसी शिल्प में मुक्तिबोध से 'अंधेरे में' और धूमिल से 'पटकथा' की रचना करवाता है ठीक उसी तरह दुष्यंत कुमार से ग़ज़ल लिखवाता है। दुष्यंत कुमार अपनी ग़ज़लों की भाषा को लेकर बेहद सतर्क हैं। वे ग़ज़ल के परंपरागत भाषाई मुहावरे को बदलते हैं। चूंकि उन्हें अपनी बात को जन-जन तक पहुंचाना था इसलिए वह जन भाषा का ही प्रयोग करते हैं। उनके अनुसार "मुझे लगा कि आम आदमी एक मिली-जुली जुबान बोलता है, वह न तो उर्दू होती है, न शुद्ध हिंदी। इसलिए मैंने इस भाषा की तलाश की जो हिंदी को हिंदी और उर्दू को उर्दू दिखाई दे और आम आदमी उसे अपनी जुबान समझ कर अपना सके।"[3]

'साये में धूप' की ग़ज़लें सत्ता लोलुप राजनीतिज्ञों को बेनकाब करती हैं। वस्तुतः दुष्यंत कुमार भारतीय राजनीति में आई विसंगतियों और व्यवस्था की विद्रूपता को भांप चुके थे। नेताओं का असली चेहरा सामने आ चुका था। चुनावी जनसभाओं में किए गए वायदे सिर्फ वोट मांगने तक सीमित रह गए। सत्ता और पूंजी के गठजोड़ ने जनता के शोषण के नए-नए तरीके खोज निकाले। जनकल्याणकारी योजनाएं कागजों में बनकर फाइलों में कैद होकर रह गई। भ्रष्टाचार ने सारी व्यवस्था को खोखला कर दिया; इस बात की तड़प को इन पंक्तियों में महसूस किया जा सकता है:

> कहां तो तय था चरागां हर एक घर के लिए कहां चराग़ मयस्सर नहीं शहर के लिए। ('साए में धूप', पृष्ठ 13)

गुलामी के अंधेरे से निकलकर आजादी के उजाले का स्वप्न जिससे हर गाँव और शहर के हर घर को रोशन होना था, खुशहाल होना था, साधन संपन्न होना था। लेकिन हुआ क्या? गाँव की तो छोड़िए शहर तक को ऐसा कुछ न मिला। यह आजादी से मोहभंग का बयान नहीं तो और क्या है? तमाम संस्थाएँ जो नागरिकों के हित के लिए बनी थी, अपने दायित्व को भूलकर निजी स्वार्थों को ही पोषित करने में लग गई। इसलिए कवि को मायूस होकर कहना पड़ रहा है:

> यहां दरख़्तों के साए में धूप लगती है
> चलो यहां से चलें और उम्र भर के लिए। (वही, पृष्ठ 13)

कवि यहां से हमेशा के लिए चले जाना चाहता है क्योंकि उसे एहसास हो गया है कि हालात सुधरने वाले नहीं हैं। कितनी मायूसी है इन बोलों में! हालात सुधरें भी तो कैसे? हर तरफ भ्रष्टाचार जो व्याप्त है कोई उससे अछूता नहीं, नीचे से ऊपर तक सभी उसमें लिप्त हैं:

> इस सड़क पर इस कदर कीचड़ बिछी है/
> हर किसी का पांव घुटनों तक सना है। (वही, पृष्ठ 27)

दुष्यंत ने प्रतीकों के माध्यम से राजनीतिक और प्रशासनिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार का न केवल जीवंत चित्र खींचा है अपितु उस पर तीखा व्यंग्य कर प्रहार भी किया है। विसंगति और विडंबना से जन्मी व्यथा, निराशा, क्षोभ और आक्रोश चुभते व्यंग्य के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं।

दुष्यंत की ग़ज़लों में सत्ता और राजनीति के प्रति घोर निराशा का दर्द छलकता है। इन दोनों का ही गरीब जनता से कोई लेना देना नहीं है। सत्ता की जुबान बोलने वाले सत्ता के पैरोकारों और चाटुकारों पर व्यंग्य करते हुए वे लिखते हैं:

> वे कर रहे हैं इश्क पर संजीदा गुफ्तगू
> मैं क्या बताऊं मेरा कहीं ओर ध्यान है। (वही, पृष्ठ 59)

दुष्यंत लोकतंत्र के विरोधाभासों और विसंगतियों के घोर अंधेरों को देखकर आंखें बंद नहीं कर सकते बल्कि उनपर तीखी प्रतिक्रिया देते हैं:

> मैं बेपनाह अंधेरों को सुबह कैसे कहूं
> मैं इन नज़ारों का अंधा तमाशबीन नहीं। (वही, पृष्ठ 64)

'अंधा तमाशबीन होना' भी जैसे उस समय की मजबूरी हो गई थी क्योंकि लोकतंत्र व्यक्ति पूजा के कारण निरंकुश शासन में तब्दील हो गया था। भ्रष्ट-तंत्र और निरंकुशता के खिलाफ कोई आवाज उठाने की हिम्मत नहीं कर सकता था। सत्ता का भय और आतंक इतना कि:

> मत कहो आकाश में कुहरा घना है
> यह किसी की व्यक्तिगत आलोचना है। (वही, पृष्ठ 27)

दुष्यंत की नजर दूर-दूर तक जाकर उन कारणों की पड़ताल करती है जिनकी वजह से यह 'मुल्क देखने लायक तो है पर हसीन नहीं' और सामान कुछ नहीं फटेहाल है मगर /झोले में जिसके पास कोई संविधान है। (वही, पृष्ठ 59)

'कोई'अनिश्चयवाचक सर्वनाम इस ओर तीखा और पैना कटाक्ष करता है कि संविधान नाम भर को है, सही मायने में उस पर अमल तो हो ही नहीं रहा। जो प्रस्तावना उसकी पहचान के लिए दी गई है उसके अनुसार तो शासन-प्रशासन चल ही नहीं रहा। पूंजीवाद, निरंकुशता और भ्रष्टाचार ने हिंदुस्तान की आत्मा और स्वरूप को गहरी चोट पहुंचाई है:

> वह आदमी नहीं है मुकम्मल बयान है/ माथे पर उसके चोट का गहरा निशान है। (वही, पृष्ठ 59)

इस बदहाली का दूसरा बड़ा कारण जनता की जड़ता और तटस्थता है। जनता इस विद्रूप व्यवस्था को बदलने में अपने को असहाय और अक्षम समझती है। दरअसल वह पूरी तरह निराश, उदास और हताश हो चुकी है कि कोई बदलाव आ सकता है, शायद इसीलिए हर अत्याचार और अन्याय को वह चुपचाप सहन करती है। विरोध और विद्रोह की गूंज उससे कोसो दूर है। इतना ही नहीं वह पूरी तरह संवेदना शून्य होकर जड़ हो गई है तभी तो:

> इस शहर में तो कोई बारात हो या वारदात/ अब किसी भी बात पर खुलती नहीं हैं खिड़कियां। (वही, पृष्ठ 21)

लोगों ने बदहाली में जीना इस कदर सीख लिया है कि:

> न हो कमीज तो घुटनों से पेट ढक लेंगे/ ये लोग कितने मुनासिब हैं इस सफर के लिए। (वही, पृष्ठ 13)

'कमीज' प्रतीक है उन तमाम मौलिक अधिकारों, आधारभूत आवश्यकताओं, मूल्यों, आत्मसम्मान और अस्मिता का जिनके न होने या न रहने देने पर भी हमें कोई फ़र्क नहीं पड़ता क्योंकि हम तो हर हालात से समझौता करने वाले हैं। हमारा खुद का कोई वजूद ही नहीं है। हम तो केवल नेताओं के हाथ के झुनझुने हैं, जिसे वे जब चाहें बजा सकते हैं। वे हमारे लिए नहीं बल्कि हम उनके लिए हैं, वे जैसे और जब चाहे हमें अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल कर सकते हैं:

> जिस तरह चाहे बजाओ इस सभा में/ हम नहीं हैं आदमी हम झुनझुने हैं। (वही, पृष्ठ 43)

यह है जनता की जड़ता। विडंबना देखिए कि संस्थाएं अपना दायित्व नहीं निभा रहीं; उस पर लोग अन्याय, अत्याचार को चुपचाप सहन कर रहे हैं बल्कि वे इस माहौल में रहने के इस कदर आदी हो गए हैं कि उन्हें इस बात का तनिक भी अहसास नहीं कि यह सब गलत हो रहा है और उन्हें विरोध

में खड़े हो जाना चाहिए उन तमाम खामियों के जो पूरे सिस्टम को खोखला कर रही हैं। प्रश्न उठता है कि क्या ऐसे लोग लोकतंत्र के लिए उपयुक्त हैं? लोगों में जड़ता इस हद तक है कि इन लोगों का सब कुछ छीना जा रहा है पर इन्हें जैसे इस बात पर यकीन ही नहीं होता:

> तुम्हारे पांव के नीचे कोई ज़मीन नहीं / कमाल यह है कि फिर भी तुम्हें यकीन नहीं। (वही, पृष्ठ 64)

दुष्यंत अपनी गज़लों से जनमानस को वस्तु स्थिति से रूबरू कराना चाहते हैं। वह कहते हैं "कथ्य के स्तर पर इनमें मौजूदा हालात की बात कही गई है। जो दृश्य सामने हैं, वह दृश्य जो सामने होना चाहिए! से उसकी जरूरत, समाज का जूझता और टूटता हुआ रूप, राजनीति और राजनीतिज्ञों का मुल्क और समाज के साथ सुलूक यानी अवाम की जिंदगी, जरूरत और उसके खतरे... इन सबको मैंने इन ग़ज़लों में बांधा है और इन संजीदा और भारी-भरकम मुद्दों को सहज से सहज अभिव्यक्ति और सादी से सादी भाषा में बयान करने की कोशिश की है।"[4]

दुष्यंत कुमार सोई हुई जनता को, उसकी चेतना को जगाना चाहते हैं और उसकी आवाज को बुलंद करने के लिए बेकरार हैं:

> वो मुतमईन है कि पत्थर पिघल नहीं सकता /मैं बेकरार हूं आवाज में असर के लिए। ('साये में धूप' पृष्ठ 13)

कवि इस बात को अच्छी तरह जानता व समझता है कि बदलाव की राह इतनी सहज नहीं है। इसके लिए फिर से वही क्रांति का जज़्बा लाना होगा जो आजादी से पूर्व हर भारतीय के हृदय में धधकता था:

> मेरे सीने में नहीं तो तेरे सीने में सही, हो कहीं भी आग लेकिन आग जलनी चाहिए। (वही, पृष्ठ 30)

कवि जनता को संघर्ष के लिए प्रेरित करता है कि किसी भी बदलाव के लिए एक-एक व्यक्ति का योगदान मायने रखता है:

> हर सड़क पर, हर गली में, हर नगर, हर गांव में हाथ लहराते हुए हर लाश चलनी चाहिए। (वही, पृष्ठ 30)

दुष्यंत जनता की संघर्ष- क्षमता से भली-भांति परिचित हैं। बस उसे उचित मार्गदर्शन चाहिए, इसीलिए वे कहते हैं:

> एक चिंगारी कहीं से ढूंढ लाओ दोस्तो
> इस दीए में तेल में भीगी हुई बाती तो है। (वही, पृष्ठ 16)

कह सकते हैं कि दुष्यंत की काव्य-चेतना के निर्माण में आजादी के बाद की विषम परिस्थितियां, सत्ता और राजनीति का विघटन, लोकतान्त्रिक मूल्यों पर छाया संकट और इन सब के परिणामस्वरूप आम जन द्वारा आजादी को लेकर देखे गए सपनों का एक-एक कर टूटना, बिखरना आदि विशेष कारक रहे हैं। इन सब से जूझती दुष्यंत की समाजवादी दृष्टि उन्हें जन सरोकारों से जोड़ती हुई आमजन में राजनीतिक चेतना जागृत करती है। वह सत्ता और राजनीति की विद्रूपता को उजागर करते हुए विकृत व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंकने का आह्वान करती है। इस प्रक्रिया में सर्वप्रथम अपनी अंतरात्मा में झांकने की जरूरत को इंगित करते हुए क्रांति की राह में आने वाले तमाम खतरों से आगाह करती है तो सिर्फ़ इसलिए कि:

> जिएं तो अपने बगीचे में गुलमोहर के तले

मरें तो गैर की गलियों में गुलमोहर के लिए। (वही, पृष्ठ 13)

संदर्भ

1. दुष्यन्त कुमार, 'साये में धूप', राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 1993.
2. सं. विजय बहादुर सिंह, दुष्यंत रचनावली भाग 2, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 237
3. वही पृष्ठ सं. 239
4. वही पृष्ठ सं. 239